नियमसार। **और (४२ वीं गाथा की टीका पूर्ण करते हुए टीकाकार मुनिराज दो श्लोक कहते हैं —)** ६०वाँ श्लोक।

१. अनघ=दोषरहित; निष्पाप; मलरहित।

अनवरतमखण्डज्ञानसद्भावनात्मा,
व्रजति न च विकल्पं सन्सृतेर्घोररूपम्।
अतुलमनघमात्मा निर्विकल्पः समाधिः,
पर-परिणति-दूरं याति चिन्मात्र-मेषः ।।६०।।

आहाहा! **सतत्रूप से अखण्डज्ञान की सद्भावनावाला...** करनेयोग्य तो प्रभु अन्दर चैतन्य आनन्द का कन्द प्रभु है, उसका अनुभव करना, वह वस्तु है। बाकी तो सब बन्ध का कारण संसार है। आहाहा! यह सम्यक् अनुभव होने के बाद पंच महाव्रत आदि का विकल्प आता है, परन्तु है तो बन्ध का कारण। यह चीज़... आहाहा! जिसने पाताल में आत्मा भगवान, एक समय की पर्याय के पाताल में अन्दर **सतत्रूप से अखण्डज्ञान की सद्भावना...** आहाहा! जिसे निरन्तर अखण्ड ज्ञान की, आत्मा की, आनन्द की, शान्ति की, वीतरागस्वभाव की सद्भावनावाला आत्मा। आहाहा! ऐसी स्थितिवाला आत्मा। '**मैं अखण्डज्ञान हूँ**'... मैं तो अखण्डज्ञान, आनन्द हूँ। राग, दया, दान, क्रियाकाण्ड तो नहीं परन्तु पर्यायभेद भी मुझमें नहीं। प्रभु! सूक्ष्म बात है, प्रभु! आहाहा! मूल बात बहुत सूक्ष्म है।

पद्मनन्दिपंचविंशति में पद्मनन्दि आचार्य ने ब्रह्मचर्य की एक व्याख्या की है। अधिकार तो २६ हैं परन्तु पद्मनन्दिपंचविंशति कहा जाता है, परन्तु २६वाँ ब्रह्मचर्य का अधिकार लिया है। अतीन्द्रिय आनन्द के नाथ में रमना, वह ब्रह्मचर्य है। शरीर से ब्रह्मचर्य (पाले), बाल ब्रह्मचारी हो, वह कोई धर्म नहीं है, प्रभु! आहाहा! वह तो काय की क्रिया रुकती है। आहाहा! अपना आत्मा निर्विकल्प में नहीं आया। ऐसी बहुत बात की। पश्चात् ऐसा कहा, प्रभु! मेरी सूक्ष्म बात, सूक्ष्म बात, तुम विद्वानों, युवकों को ठीक न लगे तो प्रभु! माफ करना। दूसरा क्या कहें? हमारे पास हो, वह देते हैं। आहाहा! मुनिराज ऐसा कहते हैं। पद्मनन्दि मुनि। २६वाँ अधिकार है।

ब्रह्मचर्य का अधिकार बहुत सूक्ष्म लिया। काया से, मन से, वचन से ब्रह्मचर्य नहीं। अन्दर आनन्द के नाथ को स्पर्श कर अतीन्द्रिय आनन्द का वेदन हो, उसका नाम ब्रह्मचर्य है। ऐसा कहने के बाद कहा कि हे युवकों! प्रभु! तुम्हें मेरी बात सूक्ष्म लगे, परन्तु सत्य तो प्रभु यह है। ठीक न लगे तो माफ करना। मैं मुनि हूँ, मुझसे दूसरी क्या आशा रखोगे? आहाहा! पद्मनन्दि जैसे सन्त, वे भी ऐसी सूक्ष्म बात करके माफी माँगते हैं। तो प्रभु यह

तो सूक्ष्म बात है। अभी तो क्रियाकाण्ड के समक्ष, जहाँ हो वहाँ क्रियाकाण्ड में ही चढ़ गया है। पुण्यबन्ध की क्रिया में धर्म मानकर चढ़ गया है। आहाहा!

अतीन्द्रिय आनन्द का नाथ परमात्मा की सतत भावना... आहाहा! निरन्तर प्रभु, तेरी अखण्ड ज्ञान की सतत् रूप से निरन्तर और अखण्ड ज्ञान। निरन्तर, परन्तु किसकी भावना? अखण्ड ज्ञान, त्रिकाली ज्ञान, ध्रुवज्ञान, सामान्यज्ञान, जिसमें ज्ञान के पाँच भेद भी नहीं। आहाहा! ऐसे ज्ञान को स्पर्श कर-अखण्डानन्द के नाथ को छूकर, स्पर्श कर। आहाहा! सूक्ष्म पड़े, प्रभु! एकदम कहा नहीं जा सकता हो और अभ्यास भी न हो। सुनने मिलना कठिन पड़े, इससे किसी को कठिन लगे तो, प्रभु! दूसरा क्या हो? मार्ग तो यह है। अन्तर चैतन्य के अतीन्द्रिय आनन्द के सतत् अखण्ड ज्ञान की सद्भावना के अतिरिक्त कोई चीज़ धर्म-वर्म नहीं है। आहाहा!

मुनि महाराज जगत को प्रसिद्ध करते हैं, प्रभु! **सतत्रूप से अखण्डज्ञान की सद्भावना...** सद्भावनावाला—सच्ची भावनावाला। त्रिकाली ज्ञायक आनन्दकन्द प्रभु, शुद्ध ब्रह्म, यह शुद्ध अधिकार है न? वह शुद्ध कहो या ध्रुव कहो। यह शुद्धभाव पर्याय की बात नहीं है। अधिकार का नाम शुद्धभाव है, यह शुद्ध पर्याय का अधिकार नहीं है। शुद्धभाव ध्रुव का अधिकार है। अखण्डानन्द सत्ता, स्वसत्ता से विराजमान, अकृत, अविनाशी, पूर्णस्वभाव से भरपूर भगवान, ऐसे स्वभाव की सतत्, अखण्ड... आहाहा! **ज्ञान की सद्भावना...** स्वरूप तो चैतन्य है। उस चैतन्यस्वरूप की भावना अर्थात् अन्दर एकाग्रता। विकल्प नहीं। चिन्तवन में चिन्ता के विकल्प नहीं। आहाहा!

सद्भावनावाला आत्मा (अर्थात् - 'मैं अखण्डज्ञान हूँ'—ऐसी सच्ची भावना जिसे निरन्तर वर्तती है,...) आहाहा! सूक्ष्म बात तो बहुत की। मैं अखण्ड त्रिकाली आनन्दकन्द प्रभु सच्चिदानन्दस्वरूप अभेद, जिसमें पर्याय का भेद भी नहीं, क्योंकि पर्याय उसे विषय करती है, परन्तु पर्याय उसमें नहीं है। ऐसी सद् भावनावाला जीव **(सच्ची भावना जिसे निरन्तर वर्तती है,...)** ऐसी सच्ची भावना अर्थात् वीतरागी निर्मल पर्याय आहाहा! भगवन्त! यह तो तेरी पर्याय की बात चलती है। प्रभु! तेरा द्रव्य तो अखण्ड ज्ञान है। अखण्ड आनन्दकन्द पूर्णानन्द नाथ (है)। आहाहा! साधारण और क्रियाकाण्ड के रुचिवाले को, व्यवहार के रसवाले को ठीक न पड़े। मार्ग तो प्रभु यह है। जब करना पड़ेगा, तब यही करना पड़ेगा जगत को। आहाहा!

अखण्ड ज्ञान में तो एकरूप वस्तु, परमात्मस्वरूप ही हूँ—ऐसी निर्विकल्पदशा, वह सद्भावना, उसका नाम भावना है। वह है पर्याय, परन्तु पर्याय का ध्येय है अखण्ड ज्ञान, आनन्दकन्द के ऊपर। आहाहा! वह **(जिसे निरन्तर वर्तती है,...)** आहाहा! भगवान आत्मा पूर्णानन्द के नाथ पर जिसकी निरन्तर भावना (वर्त रही है)। विकल्प से रहित, क्रियाकाण्ड के विकल्प को स्पर्श किये बिना, अखण्डानन्द के नाथ को स्पर्श करके.. आहाहा! **(जिसे निरन्तर वर्तती है, वह आत्मा)** वह आत्मा। अन्दर है न? आहाहा! व्यवहार है। अन्तर अनुभव होने के बाद व्यवहार राग आता है, परन्तु वह पुण्यबन्ध का कारण है, वह कोई धर्म नहीं। अनुभव होने के बाद, आगे बढ़ने पर पंच महाव्रतादि के परिणाम, अट्ठाईस मूलगुण आदि के विकल्प आते हैं, परन्तु है वह बन्ध का कारण, प्रभु! परन्तु साथ में निश्चय है तो उसे (विकल्प को) व्यवहार कहने में आता है परन्तु है तो बन्ध का कारण। आहाहा!

प्रभु! तेरी महिमा की तुझे खबर नहीं है। तेरी महिमा का पार नहीं है, नाथ! यहाँ तो कहा **('मैं अखण्डज्ञान हूँ'...)** आहाहा! **(ऐसी सच्ची भावना...)** धारणा नहीं, ऐसा कहते हैं। आहाहा! पढ़कर धार लिया, ऐसा तो अनन्त बार हो गया, प्रभु! उसमें कोई जन्म-मरण की गाँठ नहीं गलती। आहाहा! **(सच्ची भावना जिसे निरन्तर वर्तती है,...)** आहाहा! इसका अर्थ (यह कि) सम्यक् अनुभव हुआ, वह तो निरन्तर वर्तता है। भेदज्ञान हुआ, विकल्प से प्रभु भिन्न पड़ा, वह तो निरन्तर वर्तता है। फिर भेदज्ञान करना नहीं पड़ता। अन्दर से सहज हो जाता है। राग से भिन्न पुरुषार्थ से पर्याय का द्रव्य पर ढलना होता है। आहाहा!

शुरुआत में ही यह गाथा कठिन आयी है। लोग कहें, तब हमें करना क्या? हम वहाँ पहुँच नहीं सकते, प्रभु! परन्तु क्यों नहीं पहुँच सकते? चीज़ है न? अनन्त जीव पहुँच गये न, प्रभु! आहाहा! नारकी में भी जहाँ सम्यग्दर्शन पाते हैं। आहाहा! जहाँ दुःख का पर्वत पड़ा है, मात्र दुःख का, जिसके दुःख सुनने पर आचार्य महाराज कहते हैं कि चोट लगती है, ऐसे दुःख हैं, प्रभु! उसमें भी सम्यग्दृष्टि जीव हैं। आहाहा! सातवें नरक में भी इस निर्विकल्प आत्मा का अनुभव करनेवाले सम्यग्दृष्टि जीव हैं। आहाहा!

यहाँ पहले तो यह कहा, अखण्ड ज्ञान हूँ—ऐसी सत्ता का स्वीकार किया। सत्ता कैसी है? कि अखण्ड ज्ञान, अखण्ड आनन्द, अखण्ड शान्ति, अखण्ड वीतरागता, यह उसकी सत्ता है। उसके सत् का सत्व है। प्रभु का सत्व यह है, नाथ! तेरी चीज़ तो अन्दर

यह है, प्रभु! आहाहा! सन्त, प्रभु कहकर पुकारते हैं। शिष्य को भगवानरूप से बुलाकर (पुकार करते हैं).. आहाहा! भगवान! सुन न प्रभु! आहाहा! तेरी चीज़ अन्दर में अखण्ड आनन्द और अखण्ड शान्ति से वर्तती है। ऐसी सच्ची भावना, वह पर्याय है। अखण्ड ज्ञान, वह द्रव्य है। सच्ची भावना, वह निर्विकल्प वीतरागदशा है। आहाहा! अखण्ड ज्ञान, वह वीतरागीस्वरूपी ध्रुव है और यह भावना, वह वीतरागी निर्मल-निर्विकल्प पर्याय है। चौथे गुणस्थान में पाँचवें, छठवें (गुणस्थान में) **(जिसे निरन्तर वर्तती है,...)** आहाहा! गजब किया है न!

कैसा? कि प्रभु निरन्तर अखण्ड है। आत्मा निरन्तर अखण्ड अनादि-अनन्त है। उस ओर झुकाव करके भावना उत्पन्न हुई, वह निरन्तर वर्तती है। निरन्तर रहनेवाला भगवान, उसकी भावना भी निरन्तर वर्तती है। आहाहा! **(निरन्तर वर्तती है, वह आत्मा) संसार के घोर विकल्प को नहीं पाता,...** आहाहा! भाषा तो देखो! यह शुभराग भी घोर संसार है। आहाहा! प्रभु इससे निराला अन्दर है। वह सतत् निरन्तर भावनावाला आत्मा घोर विकल्प.. आहाहा! चाहे तो शुभराग हो.. घोर संसार कहा है। दुःख है, संसार है, राग है, विकल्प है, आकुलता है, अशान्ति है। आहाहा! पंच महाव्रत के परिणाम भी अनाकुल नहीं, आनन्द नहीं; आकुलता है, अशान्ति है, अस्वच्छता है, उदयभाव है, विकारभाव है, मलिनभाव है, दुःखरूप भाव है। प्रभु उनसे भिन्न आनन्दरूप त्रिकाल है। आहाहा! **घोर विकल्प को नहीं पाता,...** इस ओर अखण्ड आनन्द का नाथ, उसकी निरन्तर-सतत् भावना, वही कर्तव्य है। राग के विकल्प का कर्ता होता है, वह तो मिथ्यादृष्टि है। आहाहा! ऐसी बात है। **घोर विकल्प को नहीं पाता,...** ओहोहो!

किन्तु निर्विकल्पसमाधि को प्राप्त करता हुआ,... आहाहा! है तो पर्याय। त्रिकाली निरन्तर नाथ को अनुभव करने पर जो शान्ति आती है, उसे यहाँ समाधि कहा है। समाधि कोई दूसरे अन्यमति जो बाबा-बाबा करते हैं, वह नहीं। वीतरागपने का भाव, वीतरागीस्वरूप प्रभु की भावना वीतरागभाव, उसे—**निर्विकल्पसमाधि को प्राप्त करता हुआ,...** आहाहा! अन्तर में प्रभु है महाभगवान, जिसे विकल्प का स्पर्श नहीं, जिसे तीर्थंकरगोत्र बाँधे, ऐसे विकल्प का भी स्पर्श नहीं—ऐसा वह परमात्मा है, प्रभु! तू परमात्मा है, नाथ! आहाहा! उसकी निरन्तर भावना, निरन्तर द्रव्य की निरन्तर भावना। नित्य द्रव्य की निरन्तर भावना, उसे निर्विकल्प समाधि होती है, शान्ति होती है। उसे विकल्प उत्पन्न नहीं होते। आहाहा!

एक श्लोक में गजब काम है। मुनिराज दिगम्बर सन्त (तो) केवलियों के पथानुगामी हैं। आहाहा! यह तो फिर विकल्प आ गया, नहीं तो समाधि-शतक में (तो) कहते हैं, अरे रे! समझाने का विकल्प पागलपन है। समाधिशतक। आहाहा! क्योंकि वह राग है, दुःख है, आकुलता है, शान्ति के सागर से विरुद्ध भाव है। आहाहा!

ऐसा **घोर विकल्प को नहीं पाता, किन्तु निर्विकल्पसमाधि को प्राप्त करता हुआ,...** आहाहा! ये पंचम काल के मुनि। पंचम काल के श्रोता को कहते हैं। कोई ऐसा कहता है कि यह बात तो चौथे काल के (लिये है तो) ऐसा नहीं है, प्रभु! आत्मा को काल-फाल लागू नहीं पड़ता। उसे चौथा काल, पहला काल, दूसरा काल, नारकी-फारकी ऐसा कुछ लागू नहीं पड़ता। वह तो चिदानन्द का नाथ, निर्मलानन्द के अनन्त आनन्द का कन्द प्रभु अनादि-अनन्त एकरूप विराजमान है। आहाहा! उसे **निर्विकल्पसमाधि को प्राप्त करता हुआ, पर-परिणति से दूर;...** शब्द में अन्तर पड़ा। रदू वह शब्द यहाँ छपाया है। परन्तु मूल शब्द तो दूर है। इसमें अन्तर पड़ गया। **पर-परिणति से दूर; अनुपम,...** आहाहा! यह निर्विकल्प समाधिधर्म है, वह भी निरूपम है।

यह तो पहली गाथा में कहा। '**ध्रुवमचलमणोवमं**' आहाहा! समयसार की पहली गाथा में भगवान ने कहा '**ध्रुवमचलमणोवमं गदिं पत्ते**' अनुपम - उपमारहित ऐसी सिद्धगति को प्राप्त, उन्हें मैं नमस्कार करता हूँ। आहाहा! नमस्कार करता हूँ, इसका अर्थ ऐसा लिया। '**वंदित्तु**' का अर्थ ऐसा लिया कि अनन्त सिद्ध को, प्रभु! मैं यह समयसार शुरु करता हूँ तो अपनी पर्याय में स्थापना करता हूँ और श्रोता के हृदय में स्थापित करता हूँ। आहाहा! पहली गाथा। उसकी व्याख्या। '**वंदित्तु सव्व सिद्धे**' अर्थात् क्या? सिद्ध को वन्दन करना अर्थात् क्या? आहाहा! अन्तर में.. आहाहा! अनुपम चीज़। उपमारहित निर्विकल्प समाधि, वह अनन्त सिद्ध को अपनी आत्मा में स्थापन करता है, पर्याय में अनन्त सिद्ध स्थापित करता है, वहाँ दृष्टि द्रव्य पर चली जाती है। पर्याय में अनन्त सिद्ध को स्थापित करता है। आहाहा! पहली गाथा गजब की गाथा है। कोई भी गाथा ऐसी है। आहाहा! अनन्त सिद्ध को अपनी पर्याय में स्थापित करता हूँ। इसका अर्थ कि मेरा ध्यान, ध्येय के ऊपर ही है। श्रोता की पर्याय में भी मैं अनन्त सिद्धों को स्थापित करता हूँ। आहाहा! भगवान! अनन्त भगवान को तुम्हारी पर्याय में बुलाता हूँ। तुम एक हो, प्रभु! परन्तु तुम्हारी एक पर्याय में मैं अनन्त भगवानों को पधराता हूँ। आहाहा! '**वंदित्तु**' का ऐसा अर्थ किया। ऐसा अर्थ है।

आहाहा! पश्चात् मैं यह समयसार कहूँगा। तेरा लक्ष्य आत्मा पर होगा तो यह क्या कहते हैं, वह तुझे ख्याल में आयेगा। नहीं तो तुझे ख्याल में भी नहीं आयेगा। आहाहा!

यहाँ कहते हैं, **पर-परिणति से दूर; अनुपम,...** आहाहा! जो वहाँ कहा यह। '**ध्रुवमचलमणोवमं**' पहली गाथा में। उस परिणति की उपमा क्या कहनी! धर्म की परिणति, परिणाम की परिणति; परिणामी भाव जो भगवान, पंचम भाव जो भगवानस्वरूप, उसके ध्यान की भावना की परिणति का क्या कहना? आहाहा! उसे किसकी उपमा देना? **पर-परिणति से दूर; अनुपम,...** आहाहा! यह धर्म। यह धर्म अनुपम है। धर्म की कोई उपमा नहीं है। आहाहा! उसमें शब्द है? उसमें थोड़ा अन्तर है। दूर है न? अन्तर है। रदू छप गया है। **पर-परिणति से रदू;** ऐसा छपने में अन्तर हुआ। दूर—**पर-परिणति से दूर; अनुपम,...** आहाहा! इसकी उपमा इसे दे। इसकी उपमा इसे दे। इसकी उपमा दूसरे को कौन दे सके?

यह सम्यग्दर्शन निर्विकल्प समाधि... आहाहा! इसकी उपमा इसे दे। किसके साथ? तुलना करना? आहाहा! ***अनघ=दोषरहित; निष्पाप।*** निर्दोष। **चिन्मात्र को...** आहाहा! ऐसा चिदानन्द प्रभु त्रिकाल, उसकी भावना करनेवाला। निरन्तर चीज़ का निरन्तर भाव करनेवाला। निर्दोष चिन्मात्र को, निर्दोष ज्ञानस्वभावमात्र, ज्ञानस्वभाव ज्ञातामात्र ही आत्मा है। उस ज्ञानस्वभावमात्र को **प्राप्त होता है।** आहाहा! अन्तर आनन्द के नाथ को प्राप्त करता है, ऐसा कहते हैं। अतीन्द्रिय आनन्द का नाथ, उसे ज्ञान शब्द से आत्मा कहा है। उस **चिन्मात्र को (चैतन्यमात्र आत्मा को)...** ऐसा। चैतन्यमात्र आत्मा, ज्ञानमात्र आत्मा, विकल्पमात्र से रहित। आहाहा! क्रियाकाण्ड के, राग के विकल्प से प्रभु रहित है। आहाहा! उसे **प्राप्त होता है।**

कलश बहुत ऊँचा आया। आधे घण्टे चला। ओहोहो! इसकी बात क्या करना! प्रभु! वह शब्दों से पार है। शब्दों को खबर नहीं कि वह चीज़ क्या है? और शब्द निकलते हैं। आहाहा! शब्दों को खबर नहीं कि यह चीज़ क्या है? शब्द तो जड़ अचेतन हैं और वाणी भगवान चैतन्य की बात करती है। आहाहा! चैतन्य में स्व-पर प्रकाशक स्वभाव है। वाणी में स्व-पर कहने की ताकत है। जानने की ताकत नहीं। वाणी में स्व-पर कहने की ताकत है। आहाहा! वह वाणी चिद् को-आत्मा को स्पर्श नहीं करती। वह वाणी स्व-पर को प्रकाशित करे (बतलाये), ऐसी उसमें शक्ति है। आहाहा! उस वाणी से यह निकला है। ऐसा प्राप्त होता है। यह ६० वाँ श्लोक हुआ। दूसरा, ६१ वाँ श्लोक।

श्लोक-६१

(स्रग्धरा)

इत्थं बुद्ध्वोपदेशं जननमृतिहरं यं जरानाशहेतुं,
भक्तिप्रह्वामरेन्द्रप्रकटमुकुटसद्रत्नमालार्चिताङ्घ्रेः ।
वीरात्तीर्थाधिनाथाद्दुरितमलकुलध्वान्तविध्वन्सदक्षं,
एते सन्तो भवाब्धेरपरतटममी यान्ति सच्छीलपोताः ।।६१।।

(वीरछन्द)

भक्त अमर नत मुकुट रत्न से पूज्य चरण वे वीर जिनेश।
जन्म मृत्यु अरु जरा विनाशक देते अघ नाशक उपदेश॥
महावीर तीर्थाधिनाथ वच सन्त जिसे उर में धरते।
सत्यशील नौका द्वारा वे पार भवोदधि को पाते॥६१॥

श्लोकार्थः—भक्ति से नमित देवेन्द्र, मुकुट की सुन्दर रत्नमाला द्वारा जिनके चरणों को प्रगटरूप से पूजते हैं—ऐसे महावीर तीर्थाधिनाथ द्वारा ये सन्त, जन्म-जरा-मृत्यु का नाशक तथा दुष्ट पापसमूहरूपी अंधकार का ध्वंस करने में चतुर, ऐसा इस प्रकार का (पूर्वोक्त) उपदेश समझकर, सत्शीलरूपी नौका द्वारा, भवाब्धि के सामने किनारे पहुँच जाते हैं।।६१॥

श्लोक-६१ पर प्रवचन

इत्थं बुद्ध्वोपदेशं जननमृतिहरं यं जरानाशहेतुं,
भक्तिप्रह्वामरेन्द्रप्रकटमुकुटसद्रत्नमालार्चिताङ्घ्रेः ।
वीरात्तीर्थाधिनाथाद्दुरितमलकुलध्वान्तविध्वन्सदक्षं,
एते सन्तो भवाब्धेरपरतटममी यान्ति सच्छीलपोताः ।।६१।।

आहाहा! दिगम्बर सन्तों का एक-एक पद तो देखो! चार लाईनें थीं, ६० वें (श्लोक

की) चार थी। आहाहा! अब यह एक, दो, तीन.. यह भी चार है।

भक्ति से नमित... आहाहा! **देवेन्द्र, मुकुट की सुन्दर रत्नमाला द्वारा जिनके चरणों को प्रगटरूप से पूजते हैं**—आहाहा! ऐसे भगवान **भक्ति से...** अकेले नम्रीभूत, ऐसा नहीं। अकेला नमना नहीं। आहाहा! अन्दर भक्ति से नमन। भगवान को इन्द्र भक्ति से नमन करते हैं। एकावतारी इन्द्र प्रथम देवलोक के शकेन्द्र और उनकी मुख्य रानी, दोनों एक भवतारी हैं। वहाँ से मनुष्य होकर मोक्ष में जानेवाले हैं, ऐसा सिद्धान्त में लेख है। आहाहा! वे देव, भगवान को वन्दन करते हैं। आहाहा!

कहते हैं, **भक्ति से नमित...** क्या नमित? **देवेन्द्र, मुकुट की सुन्दर रत्नमाला...** आहाहा! भगवान को नमन करते हुए सुन्दर रत्नमाला ऐसी नम गयी है। **भक्ति से नमित देवेन्द्र, मुकुट की सुन्दर रत्नमाला द्वारा जिनके चरणों को प्रगटरूप से पूजते हैं—** आहाहा! **ऐसे महावीर तीर्थाधिनाथ द्वारा...** ऐसे महावीर तीर्थाधिनाथ द्वारा **ये सन्त, जन्म-जरा-मृत्यु का नाशक...** आहाहा! भगवान ने यह कहा। क्या? जन्म-जरा और मृत्यु का नाश करनेवाली बात.. जन्म करना, भव-अवतार करना, यह नहीं।

योगीन्द्रदेव तो दोहे में कहते हैं कि प्रभु! भव कलंक है। आत्मा में भव, वह कलंक है। अखण्डानन्द का नाथ, उसे यह भव क्या? यह भव क्या? यह भ्रमण क्या? यह क्या है? आहाहा! कहते हैं कलंक है। अरे! इसे इसके घर की बात की खबर नहीं। घर में क्या रत्न पड़े हैं, इसकी इसे खबर नहीं। आहाहा! और बाहर की बात सब लगायी है। इसकी प्रशंसा और उसमें... आहाहा! यहाँ कहते हैं **ऐसे महावीर तीर्थाधिनाथ द्वारा ये सन्त, जन्म-जरा-मृत्यु का नाशक तथा दुष्ट पापसमूहरूपी अंधकार का ध्वंस करने में चतुर,..** आहाहा! श्लोक भी ऐसा आया है न! जगत का भाग्य है। आहाहा!

दुष्ट पापसमूहरूपी अंधकार का ध्वंस करने में चतुर, ऐसा इस प्रकार का (पूर्वोक्त) उपदेश... भगवान का था, ऐसा कहते हैं। भगवान का उपदेश, भव हो और पुण्य हो, यह नहीं था। आहाहा! जिसे इन्द्रों की रत्नमाला नमती है, ऐसा भगवान का उपदेश, आहाहा! ऐसा उपदेश कि **दुष्ट पापसमूहरूपी अंधकार का ध्वंस करने में चतुर, ऐसा इस प्रकार का (पूर्वोक्त) उपदेश...** था। भगवान का उपदेश पाप और पुण्य के नाश करने का था। पाप शब्द से पुण्य और पाप दोनों पाप हैं।

योगीन्द्रदेव कहते हैं कि 'पाप को पाप तो सब कहे, परन्तु पुण्य को अनुभवीजन पाप कहे' योगीन्द्रदेव के (योगसार दोहा ७१) में है। 'पाप को पाप तो सब कहे, परन्तु अनुभवी जीव पुण्य को पाप कहे' आहाहा! क्योंकि दोनों बन्धन का कारण और आकुलता तथा दुःख है। पुण्य और पाप दोनों आकुलता और दोनों दुःख के कारण हैं। कहो, हसमुखभाई! पैसा-बैसा में, रजनीभाई! उनमें सुख नहीं है, ऐसा कहते हैं। धूल में सुख नहीं है। आहाहा! उस ओर लक्ष्य करने से सुख नहीं है। पैसे में तो सुख नहीं, परन्तु उस ओर लक्ष्य करने से सुख नहीं। परपदार्थ के प्रति लक्ष्य करने से आकुलता होगी, प्रभु! आहाहा! चाहे तो त्रिलोक के नाथ तीर्थंकर के प्रति लक्ष्य जाये तो भी राग और आकुलता उत्पन्न होगी। ऐसी चीज़ है, प्रभु! आहाहा!

यहाँ कहते हैं **ध्वंस करने में चतुर, ऐसा इस प्रकार का (पूर्वोक्त) उपदेश समझकर, सत्शीलरूपी नौका द्वारा,...** धर्मात्मा, सन्त, सत्शीलरूपी। सतस्वरूप का शील आचरण। आहाहा! अन्तर भगवान आनन्दस्वरूप के सत् का आचरण, **सत्शीलरूपी नौका द्वारा, भवाब्धि के सामने किनारे पहुँच जाते हैं।** आहाहा! बात तो बहुत मीठी है, प्रभु! कठिन लगे कि यह ही मार्ग होगा? दूसरा कोई व्यवहारमार्ग नहीं होगा? ऐसी सामने आवाज आवे। मार्ग दूसरा नहीं है, प्रभु! मार्ग तो यह एक ही है। आहाहा! बीच में फिर आवे, पूर्ण वीतरागतान हो तो यह महाव्रत, समिति, गुप्ति, वन्दन, भक्ति आदि का राग आवे, परन्तु वह सब बन्ध का कारण है। वह कोई मुक्ति और निर्जरा का कारण नहीं है। आहाहा!

यहाँ कहते हैं, **सत्शीलरूपी नौका...** सत्शुद्ध चैतन्यमूर्ति निर्विकल्प समाधि, वह सत्शीलरूपी नौका। आहाहा! नावड़ी (नौका का गुजराती शब्द) नावड़ी कहते हैं न? उस **नौका द्वारा, भवाब्धि के...** भवनरूपी समुद्र, अब्धि अर्थात् समुद्र, भवरूपी समुद्र, उसके सामने किनारे पहुँच जाते हैं। भव का अन्त आता है। इसलिए भगवान ने उपदेश किया। यह चैतन्य की भावना जिसे हुई, अन्तर के आनन्द की, शान्ति और वीतरागता की (भावना हुई), उसे भवाब्धि का-भव के अब्धि का अन्त आ जाता है। आहाहा!

यह कहीं अभी का है? यह तो हजारों वर्ष पहले का है। भगवान की वाणी (मूलशास्त्र नियमसार) तो दो हजार वर्ष पहले की है। यह टीका नौ सौ वर्ष पहले की है। पद्मप्रभमलधारिदेव। पंचम काल के सन्त, पंचम काल के जीव को ऐसी बात करते हैं।

उसे तू नहीं पहुँच सके, इसलिए ऐसा करना.. ऐसा करना.. ऐसा करना.. ऐसा नहीं कहा। आहाहा! यह करना। प्रभु! ऐसा करके अनन्त (जीव) मोक्ष में गये हैं। आहाहा! पंचम काल में भी आत्मज्ञान पाकर बहुत से जीव एकावतारी हो गये हैं।

ऐसी **सत्शीलरूपी...** जो क्रिया कही। क्रिया यह—सत्शील। त्रिकाली आनन्द का नाथ सत्, उसके शील का स्वभाव, उस रूपी नौका, वह नाव, उस **द्वारा, भवाब्धि के सामने किनारे पहुँच जाते हैं।** भवाब्धि के सामने किनारे अर्थात् मोक्ष। आहाहा! धन्नालालजी! यह गाथा आयी है। लोगों को ऐसा लगे, एकान्त है। व्यवहार की तो बात आती नहीं है। व्यवहार आवे, तब बन्ध का कारण है, ऐसा कहते हैं। निश्चय आवे, तब उसकी महिमा करते हैं। प्रभु! निश्चय अर्थात् सत्य; व्यवहार अर्थात् तो उपचारिक-आरोपित कथन है। आहाहा!

यहाँ अन्तर में शील, सत् का शील। सत् जो स्वरूप भगवान, उसका शील अर्थात् स्वभाव, उसके द्वारा **नौका द्वारा, भवाब्धि के सामने किनारे पहुँच जाते हैं।** मोक्ष में पहुँच गया। ये पंचम काल के सन्त, श्रोता को पंचम काल में कहते हैं कि जो मोक्ष गये हैं, वे इस अनुसार गये हैं। आहाहा! ऐसा नहीं कि यह हल्का पंचम काल है, इसलिए इसे कुछ दूसरी हल्की बात कहना या दूसरी बात कहना, ऐसा कुछ नहीं है। आहाहा! यह बात है प्रभु! मार्ग तो यह एक है। 'एक होय तीन काल में परमारथ का पन्थ।' इस चिदानन्द का अनुभव-वेदन, शान्ति वेदन, आनन्द का स्वाद। आहाहा! यह एक ही मोक्ष का मार्ग है; दूसरा कोई मोक्ष का मार्ग नहीं है। यह ४२ गाथा पूरी हुई। ४३ गाथा।

गाथा-४३

णिद्दंडो णिद्दंद्दो णिम्ममओ णिक्कलो णिरालंबो।
णीरागो णिद्दोसो णिम्मूढो णिब्भयो अप्पा।।४३।।

निर्दण्ड: निर्द्वन्द्व: निर्मम: नि:कल: निरालम्ब:।
नीराग: निर्दोष: निर्मूढ़: निर्भय: आत्मा।।४३।।

इह हि शुद्धात्मन: समस्तविभावाभावत्वमुक्तम्। मनोदण्डो वचनदण्ड: कायदण्डश्चेत्येतेषां योग्यद्रव्यभावकर्मणामभावान्निर्दण्ड:। निश्चयेन परमपदार्थव्यतिरिक्त-समस्तपदार्थसार्था-भावान्निर्द्वन्द्व:। प्रशस्ताप्रशस्तसमस्तमोहरागद्वेषाभावान्निर्मम:। निश्चयेनौदारिकवैक्रियि-काहारकतैजसकार्मणाभिधानपञ्चशरीरप्रपञ्चाभावान्नि:कल:। निश्चयेन परमात्मन: परद्रव्य-निरवलम्बत्वान्निरालम्ब:।

मिथ्यात्ववेदरागद्वेषहास्यरत्यरतिशोकभयजुगुप्साक्रोधमानमायालोभाभिधानाभ्यन्तर-चतुर्दशपरिग्रहाभावान्नीराग:। निश्चयेन निखिलदुरितमलकलङ्कपङ्कनिर्मुक्तसमर्थ-सहजपरमवीतरागसुखसमुद्रमध्यनिर्मग्नस्फुटितसहजावस्थात्मसहजज्ञानगात्रपवित्रत्वान्निर्दोष:।

सहजनिश्चयनयबलेन सहजज्ञानसहजदर्शनसहजचारित्रसहजपरमवीतराग-सुखाद्यनेकपरमधर्माधारनिजपरमतत्त्वपरिच्छेदनसमर्थत्वान्निर्मूढ:, अथवा साद्यनिधनामूर्ता-तीन्द्रियस्वभावशुद्धसद्भूतव्यवहारनयबलेन त्रिकालत्रिलोकवर्तिस्थावरजङ्गमात्मक-निखिलद्रव्यगुणपर्यायैकसमयपरिच्छित्तिसमर्थसकलविमलकेवलज्ञानावस्थत्वान्निर्मूढश्च। निखिलदुरितवीरवैरिवाहिनीदु:प्रवेशनिजशुद्धान्तस्तत्त्वमहादुर्गनिलयत्वान्निर्भय:। अयमात्मा ह्युपादेय: इति।

तथा चोक्तममृताशीतौ ह्न

(मालिनी)

स्वरनिकरविसर्गव्यञ्जनाद्यक्षरैर्यद्,
रहितमहितहीनं शाश्वतं मुक्तसङ्ख्यम्।
अरसतिमिररूपस्पर्शगन्धाम्बुवायु-
क्षितिपवनसखाणुस्थूल दिक्चक्रवालम्।।

तथाहि ह्न

निर्दंड अरु निर्द्वंद्व निर्मम निःशरीर निराग है।
निर्मूढ़ निर्भय, निरवलंबन आत्मा निर्दोष है॥४३॥

अन्वयार्थः—[आत्मा] आत्मा [निर्दण्डः] निर्दण्ड [निर्द्वन्द्वः] निर्द्वन्द्व [निर्ममः] निर्मम, [निःकलः] निःशरीर, [निरालंबः] निरालंब, [नीरागः] नीराग, [निर्दोषः] निर्दोष, [निर्मूढः] निर्मूढ और [निर्भयः] निर्भय है।

टीकाः—यहाँ (इस गाथा में) वास्तव में शुद्ध आत्मा को समस्त विभाव का अभाव है—ऐसा कहा है।

मनदण्ड, वचनदण्ड और कायदण्ड के योग्य द्रव्यकर्मों तथा भावकर्मों का अभाव होने से आत्मा, निर्दण्ड है। निश्चय से परमपदार्थ के अतिरिक्त समस्त पदार्थ समूह का (आत्मा में) अभाव होने से आत्मा, निर्द्वन्द्व (द्वैतरहित) है। प्रशस्त-अप्रशस्त, समस्त मोह, राग, द्वेष का अभाव होने से आत्मा, निर्मम (ममतारहित) है। निश्चय से औदारिक, वैक्रियक, आहारक, तैजस, और कार्मण नामक पाँच शरीरों के समूह का अभाव होने से आत्मा, निःशरीर है। निश्चय से परमात्मा को परद्रव्य का अवलम्बन न होने से आत्मा, निरालम्ब है। मिथ्यात्व, वेद, राग, द्वेष, हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा, क्रोध, मान, माया, और लोभ नामक चौदह अभ्यन्तर परिग्रहों का अभाव होने से आत्मा, निराग है। निश्चय से समस्त पापमलकलंकरूपी कीचड़ को धो डालने में समर्थ, सहज, परमवीतराग-सुखसमुद्र में मग्न (डूबी हुई लीन) प्रगट सहजावस्थास्वरूप जो सहजज्ञान-शरीर, उसके द्वारा पवित्र होने के कारण आत्मा, निर्दोष है। सहज निश्चयनय से सहजज्ञान, सहजदर्शन, सहजचारित्र, सहज-परमवीतराग सुख आदि अनेक परमधर्मों के आधारभूत निज परमतत्त्व को जानने में समर्थ होने से आत्मा निर्मूढ़ (मूढ़तारहित) है; अथवा, सादि-अनन्त अमूर्त अतीन्द्रिय स्वभाववाले शुद्धसद्भूतव्यवहारनय से तीन काल और तीन लोक के स्थावर-जंगमस्वरूप समस्त द्रव्य-गुण-पर्यायों को एक समय में जानने में समर्थ सकल-विमल (सर्वथा निर्मल) केवलज्ञानरूप से अवस्थित होने से आत्मा, निर्मूढ़ है। समस्त पापरूपी शूरवीर शत्रुओं की सेना जिसमें प्रवेश नहीं कर सकती—ऐसे निज शुद्ध अन्तःतत्त्वरूप महादुर्ग में (किले में) निवास करने से आत्मा, निर्भय है। ऐसा यह आत्मा वास्तव में उपादेय है।

१. निर्दण्ड=दण्डरहित। (जिस मनवचनकायाश्रित प्रवर्तन से आत्मा दण्डित होता है, उस प्रवर्तन को दण्ड कहा जाता है।)

इसी प्रकार (श्री योगीन्द्रदेवकृत) अमृताशीति में (५७ वें श्लोक द्वारा) कहा है कि—

(वीरछन्द)

स्वर समूह व्यञ्जन विसर्ग से आत्मतत्त्व है शून्य सदा।
संख्या से भी मुक्त और जो शाश्वत अहित-विहीन सदा॥
अन्धकार, रस, गंध तथा ही स्पर्श रूप से भिन्न सदा।
भू, जल, अग्नि पवन अणुओं से दिशा चक्र से भिन्न सदा॥

श्लोकार्थः—आत्मतत्त्व, स्वरसमूह, विसर्ग और व्यञ्जनादि अक्षरोंरहित तथा संख्यारहित है (अर्थात्, अक्षर और अंक का आत्मतत्त्व में प्रवेश नहीं है); अहितरहित है; शाश्वत है; अंधकार तथा स्पर्श, रस, गंध और रूपरहित है; पृथ्वी, जल, अग्नि और वायु के अणुओं रहित है, तथा स्थूल दिक्चक्र (दिशाओं के समूह) रहित है।

गाथा-४३ पर प्रवचन

णिद्दंडो णिद्दंद्दो णिम्ममओ णिक्कलो णिरालंबो।
णीरागो णिद्दोसो णिम्मूढो णिब्भयो अप्पा।।४३।।

आत्मा ऐसा होता है, यह शुद्ध अधिकार है न? शुद्ध कहो या ध्रुव कहो या आत्मा कहो। नीचे हरिगीत

निर्दंड अरु निर्द्वंद्व निर्मम निःशरीर निराग है।
निर्मूढ़ निर्भय, निरवलंबन आत्मा निर्दोष है॥४३॥

यह आत्मा ऐसा है, ऐसा कहते हैं। आहाहा! यहाँ तो आत्मा के गीत हैं। पुण्य के गीत यहाँ नहीं हैं। आहाहा! पद्मप्रभमलधारिदेव तो आगे कहते हैं कि शुभभाव तो घोर संसार है। आहाहा! राग है, आकुलता है, विकार है। पूर्ण वीतराग न हो, तब शुभराग पंच महाव्रतादि (राग) आता है, परन्तु है दुःख, है आकुलता। आहाहा! ४३ (गाथा)।

टीकाः—यहाँ (इस गाथा में) वास्तव में शुद्ध आत्मा को समस्त विभाव का अभाव है—ऐसा कहा है। आहाहा! **(इस गाथा में) वास्तव में शुद्ध आत्मा को...** त्रिकाल

भगवान शुद्ध ध्रुवस्वरूप प्रभु को, समस्त विभाव-किसी प्रकार का विभाव, महाव्रतादि का विभाव भी जिसमें नहीं है। आहाहा! जिस भाव से तीर्थंकरगोत्र बँधे, वह भी विभाव और अधर्म है। आहाहा! धर्म से बन्ध होता ही नहीं। वह भाव भी (बन्धरूप भाव) आत्मा में नहीं है। है? **शुद्ध आत्मा को समस्त विभाव का अभाव है—ऐसा कहा है।**

अब निर्दण्ड की व्याख्या करते हैं। **मनदण्ड,...** मन का विकल्प उठे, वह मनदण्ड। आहाहा! **वचनदण्ड और कायदण्ड के योग्य द्रव्यकर्मों तथा भावकर्मों का अभाव होने से...** आहाहा! भगवान आत्मा प्रभु, जिसे नौ तत्त्व में आत्मा कहते हैं, उसमें कहते हैं कि जो **मनदण्ड, वचनदण्ड और कायदण्ड के योग्य द्रव्यकर्मों तथा भावकर्मों का...** अर्थात् विकार विकल्प। उसका **अभाव होने से आत्मा, निर्दण्ड है।** आहाहा! उसमें दण्ड है ही नहीं। त्रिकाली भगवान सम्यग्दर्शन का विषय, सम्यग्दर्शन का ध्येय, सम्यग्दर्शन—जिसमें भगवान की भेंट होती है, वह तो निर्दण्ड—दण्डरहित चीज़ है। आहाहा! मन का विकल्प भी दण्ड है, यह उसमें नहीं है। आहाहा! उसका कारण कहा न? कि **कायदण्ड के योग्य द्रव्यकर्मों तथा भावकर्मों का...** दोनों का। **अभाव होने से...** भगवान आत्मा में तो दोनों कर्म—द्रव्यकर्म और भावकर्म। द्रव्यकर्म जड़ है, भावकर्म विकल्प है। (उनका अभाव है)। आहाहा! यह तो बारहवाँ दिन है। अब आठ दिन रहे। यह बात सूक्ष्म तो पड़ती है, प्रभु! परन्तु कान में तो पड़े। अरे! कब करेगा? प्रभु! यह भव गया, फिर यह भाव किस भव में करेगा? आहाहा!

मुमुक्षु : शिक्षण शिविर में यह भाव चलाया, वह बड़ी कृपा की।

आहाहा! यह निर्दण्ड है। भगवान अन्दर निर्दण्ड है, मन-वचन-काया के कारणरूप द्रव्यकर्म और भावकर्म अर्थात् मन का विकल्प, वचन का विकल्प और काया का विकल्प, वह भावकर्म - ऐसे दण्ड से रहित प्रभु है। उसमें दण्ड होता है—भावकर्म का विकल्प मन से उत्पन्न होता है तो आत्मा में दण्ड होता है, नुकसान होता है। आहाहा! उस दण्ड से रहित है। आहाहा!

सामने सुनायी देता होगा? वृक्ष के नीचे बैठे हैं। सामने बैठे हैं।

दूसरा बोल। **निश्चय से...** वास्तव में। **परमपदार्थ के अतिरिक्त...** परमपदार्थ प्रभु ध्रुव और आनन्द का नाथ, अतीन्द्रिय आनन्द के रस का सागर, उसमें **समस्त पदार्थ समूह**

का (आत्मा में) अभाव होने से... परमपदार्थ के अतिरिक्त। अपने परमपदार्थ से भिन्न, अपना परमपदार्थ प्रभु, उससे अतिरिक्त अर्थात् भिन्न। **समस्त पदार्थ समूह...** चाहे तो पंच परमेष्ठी हो। आहाहा! यह वीतराग कहते हैं। आहाहा! वीतराग ऐसा कहते हैं कि हम भी तुझसे परपदार्थ हैं। हमें याद करेगा तो प्रभु! तुझे राग होगा। मोक्ष अधिकार (पाहुड़) में लिया है। **परदव्वादो दुग्गई**—हम परद्रव्य हैं। हमारी ओर लक्ष्य जायेगा तो तुझे राग / दण्ड होगा। आहाहा! गजब बात है। सुनना ही कठिन पड़े। आहाहा! सत्य तो यह है। परमसत्य यह है, प्रभु! किसी को रुचे, रुचे वह स्वतन्त्र वस्तु है। आहाहा!

परमपदार्थ के अतिरिक्त... भगवान ध्रुव आत्मा से रहित **समस्त पदार्थ...** आहाहा! पर्याय से लेकर पूरे लोकालोक का अभाव होने से। पर्याय से लेकर.. क्योंकि पर्याय और द्रव्य तो द्वन्द्व है। यहाँ तो निर्द्वन्द्व / द्वैतरहित कहना है। आहाहा! प्रभु अन्दर कैसा है? परमपदार्थ ऐसा प्रभु, तुझसे भिन्न **समस्त पदार्थ समूह...** समस्त पदार्थ समूह, लोकालोक। एक समय की पर्याय से लेकर लोकालोक। आहाहा! उसका तुझमें **अभाव होने से आत्मा, निर्द्वन्द्व (द्वैतरहित) है।** आत्मा में द्वैतपना नहीं है। आहाहा! आत्मा और पर्याय द्वैत है, ऐसा भी नहीं है। आहाहा!

त्रिकाली आत्मा में—परमपदार्थ के अतिरिक्त, पर्याय से लेकर सब पदार्थ.. आहाहा! उससे भिन्न है, इस कारण उसे निर्द्वन्द्व अर्थात् द्वैतरहित कहते हैं। दो रहित एकरूप प्रभु है। उसमें दो नहीं। द्रव्य और पर्याय, ऐसे दो (भेद) भी नहीं। आहाहा! गजब बात है, प्रभु! तेरी चीज़ अन्दर आनन्द का नाथ सनातन सत्य (विद्यमान है)। अनन्त सर्वज्ञ हुए, वे अनन्त सर्वज्ञस्वभाव में से हुए, ऐसा सर्वज्ञस्वभाव द्वन्द्वरहित है। द्वन्द्व अर्थात् द्वैतरहित है। द्वैतरहित अर्थात् परपदार्थ से रहित, एक समय की पर्याय से भी रहित और सर्व लोकालोक, उसमें पंच परमेष्ठी भी आये, उससे रहित है। है या नहीं? आहाहा! ऐसा है, प्रभु!

यह तो तेरी चीज़ तुझे देते हैं। तेरी चीज़ तुझे देते हैं। यह चीज़ है न, भगवान! जिसमें द्वैतपना नहीं। आहाहा! जिसमें द्रव्य और पर्याय दो (भेद) भी नहीं। ऐसे परमपदार्थ में... है? ऐसा **परमपदार्थ...** में-ऐसा कहा। आहाहा! कठिन लगे। बहिनें, लड़कियाँ कितनी ही अनजान हों, पढ़ते न हों परन्तु अन्दर आत्मा में पठन-बठन की आवश्यकता नहीं है। अन्दर भगवान है न? शरीर स्त्री का है, वह तो जड़, मिट्टी, धूल का है। भगवान अन्दर विराजता है।

बहिन आयी हैं ? कब आयीं ? अभी आयीं ? बहिन भगवतीमूर्ति है, धर्मरत्न है। लोगों को ख्याल आना मुश्किल पड़ता है। आहाहा!

यहाँ कहते हैं, द्वैतरहित है। भगवान अन्दर तीन लोक का नाथ, तेरा आत्मा और सबका आत्मा... आहाहा! द्वैतरहित है। अद्वैत अर्थात् वे जो वेदान्त अद्वैत कहते हैं, वह बात नहीं, हों! वे तो अद्वैत अर्थात् एक ही आत्मा सर्व व्यापक कहते हैं। आत्मा और उसका अनुभव, इस दो को भी विकल्प कहते हैं, वह नहीं। आत्मा और अनुभव! दो चीज़! दो कहाँ से आये ? ऐसा कहते हैं। वह बात यहाँ नहीं है। यहाँ तो अनन्त पदार्थ हैं। एक-एक पदार्थ में अनन्त गुण हैं। एक-एक गुण में अनन्त गुण (प्रत्येक गुण) की अनन्त पर्यायें हैं। एक-एक पर्याय में अनन्त अविभागप्रतिच्छेद हैं। वह अनादि सनातन सत् है। किसी ने कल्पित बनाया है, ऐसा नहीं है। अनादि चीज़ है। छहढाला में आता है। नहीं किया हुआ। यह ब्रह्माण्ड किसी ने बनाया नहीं।

मुमुक्षु : किनहू न हेरै को... करो न धरै को, षट द्रव्यमयी

पूज्य गुरुदेवश्री : हाँ, यह भाषा। सब भाषा याद रहे न! किसी ने किया नहीं, कराया नहीं। आहाहा! ऐसी चीज़ अन्दर में भगवान... आहाहा!

परमपदार्थ के अतिरिक्त समस्त पदार्थ समूह का (आत्मा में) अभाव होने से आत्मा, निर्द्वन्द्व (द्वैतरहित) है। आहाहा! **प्रशस्त-अप्रशस्त, समस्त मोह, राग, द्वेष का अभाव होने से...** शुभभाव और अशुभभाव, शुभ मोह और अशुभमोह, शुभराग और अशुभराग सबका **अभाव होने से आत्मा, निर्मम है।** आहाहा! उसमें शुभभाव भी नहीं, निर्मम है। ऐसी अन्तर में दृष्टि करके अनुभव करने का नाम धर्म है।

(**श्रोता:** प्रमाण वचन गुरुदेव!)